जनसत्ता

बेहतरी का सूचकांक

मतदान पश्चात के अनुमानों में एक बार फिर एनडीए सरकार बनने के संकेत उभरे, तो लंबे समय से सुस्त पड़ा शेयर बाजार कुलांचें भरने लगा। निफ्टी भी अब तक के अपने नए रिकार्ड स्तर पर पहुंच गया। सितंबर 2013 के बाद सूचकांकों में एक दिन में आई यह सबसे बड़ी तेजी है। यानी यह इस बात का संकेत है कि निवेशकों का मनोबल बढ़ा है। यानी अंतिम नतीजे आने तक शेयर बाजार का रुख इसी तरह ऊपर की ओर बने रहने का अनुमान है। हालांकि यह पहला मौका नहीं है, जब आम चुनाव के मतदान पश्चात नतीजों के बाद शेयर बाजार में ऐसा उत्साह का वातावरण बना है। पिछले अनेक मौकों पर ऐसा देखा गया, जब सरकार बदलने का अनुमान होता है, तो बाजार में नरमी का रुख होता है। इसका उदाहरण पिछले महीने ही देखने को मिला, जब अनुमान लगाया गया था कि अपने सहयोगी दलों के साथ कांग्रेस सरकार बना सकती है, तो सेंसेक्स में छह फीसद की गिरावट आ गई थी। निवेशकों में इस तरह की निराशा या उत्साह की वजहें साफ हैं। जब सरकार बदलती है तो पुरानी आर्थिक नीतियों में बदलाव की संभावना रहती है, जबकि पिछली सरकार के अपना कार्यकाल जारी रखने पर चालू नीतियों के निरंतर आगे बढ़ने की उम्मीद होती है।

सरकार बदलने से अर्थव्यवस्था को लेकर कई तरह के कयास लगाए जाने लगते हैं। फिर यह भी कि नई सरकार अपनी साख बनाने के मकसद से कई लोकलुभावन योजनाएं शुरू करती है, कई पुरानी योजनाओं में बदलाव करती या उन्हें समाप्त करने के कदम भी उठा लेती है। इसलिए जब मतदान पश्चात के ताजा अंकड़े आए, तो निवेशकों को यह भरोसा बना कि अर्थव्यवस्था में झटके नहीं लगेंगे। पहले कार्यकाल में सरकार ने जो योजनाएं या नीतियां लागू की थीं, उनमें निरंतरता बनी रहेगी, इसलिए अर्थव्यवस्था में बेहतरी की उम्मीद बनेगी। जीएसटी जैसे फैसलों के नतीजे अब दिखने शुरू होंगे। पर आर्थिक विशेषज्ञ शेयर बाजार के ताजा रुझान को बहुत उत्साहजनक नहीं मानते। इसकी वजह है कि मतदान पश्चात के आंकड़ों को लेकर अभी संशय बने हुए हैं। इसलिए अंतिम नतीजे आने के बाद सेंसेक्स का रुख ऊपर की तरफ ही बना रहेगा, दावा नहीं किया जा सकता। ऐसा अनेक बार देखा जा चुका है कि मतदान पश्चात नतीजों को देख कर उछला शेयर बाजार अंतिम नतीजों के बाद औंधे मुंह नीचे गिर गया। इसलिए बाजार विशेषज्ञ छोटे निवेशकों को धैर्य और विवेक से काम लेने की सलाह दे रहे हैं।

शेयर बाजार अनिश्चितताओं के खेल का एक ऐसा मैदान है, जहां चतुर खिलाड़ी पल-पल खेल बदल दिया करते हैं। ऐसे खिलाड़ियों को तेजड़िए और मंदड़िए कहा जाता है। ये बाजार में झुंड बना कर आते हैं और पूरे खेल का रुख बदल देते हैं। कई बार वे कृत्रिम उछाल या गिरावट पैदा करते हैं और लाभ कमा कर निकल लेते हैं। उनके इस खेल में कई बार बिकवाली बढ़ जाती है, और छोटे निवेशक खुद को ठगा महसूस करते हैं। इस बार भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। बाजार का रुख कुछ इतनी तेजी से ऊपर को उठा कि आम निवेशक हैरानी से देखते रह गए। वे यह निर्णय नहीं कर पाए कि उन्हें क्या करना चाहिए। लाभ कमाना चाहिए या इंतजार करना चाहिए। ऐसी स्थिति में छोटे निवेशकों की समझदारी इसी में मानी जाती है कि वे धैर्य रख कर बाजार के वास्तविक रुख को समझें और फिर अगला कदम उठाएं।

बेलगाम अपराध

दिल्ली के विवेक विहार इलाके में सरेआम एक सब-इंस्पेक्टर की हत्या से फिर यही जाहिर हुआ है कि राजधानी में आपराधिक तत्त्वों के हौसले काफी बढ़े हुए हैं। हालत यह है कि वे किसी पुलिस अधिकारी पर जानलेवा हमला करने से भी नहीं हिचकते। रविवार रात नौ बजे के आसपास एक सब-इंस्पेक्टर ने कस्तूरबा नगर स्थित अपने घर के पास आपराधिक पृष्ठभूमि वाले विजय उर्फ भूरी को देखा तो उसका वीडियो बनाने लगे। इसी बात पर भूरी ने उन पर हमला कर दिया और बुरी तरह मारा-पीटा, सीढ़ियों से धकेल दिया। बाद में उनकी मौत हो गई। घटना के वक्त आसपास काफी लोग मौजूद थे, लेकिन सिर्फ एक व्यक्ति ने आरोपी भूरी को रोकने की कोशिश की, बाकी उसके खौफ की वजह से मूकदर्शक रहे। तात्कालिक कारण भले यह हो कि सब-इंस्पेक्टर ने आरोपी का वीडियो बनाना शुरू कर दिया था, लेकिन खबरों के मुताबिक इसके पीछे इलाके में अवैध शराब का कारोबार है। विवेक विहार के कस्तूरबा नगर में ऐसे लोगों की खासी तादाद है, जो शराब और नशीले पदार्थों के गैरकानूनी धंधे में लगे हैं। सब-इंस्पेक्टर राजकुमार ने कई मौकों पर इसका विरोध किया था और इसी वजह से कुछ समय पहले उन्हें धमकी भी मिली थी।

जाहिर है, रविवार की घटना केवल तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं थी, बल्कि इसकी पृष्ठभूमि पहले से बन रही थी। सवाल है कि इलाके में अवैध शराब और नशीले पदार्थों का खुला धंधा चलने के बावजूद पुलिस ने क्या कार्रवाई की थी? ऐसे आरोप भी सामने आए हैं कि ऐसे गैरकानूनी कारोबार पर लगाम के मकसद से इलाके में पुलिस बूथ भी बनाए गए थे, फिर भी वहां मादक पदार्थों का धंधा धड़ल्ले से चल रहा था। क्या ऐसा बिना पुलिस की अनदेखी या संरक्षण के चल रहा होगा? आखिर किन वजहों से इलाके के किसी अपराधी को एक पुलिस अधिकारी पर भी हमला करने में संकोच नहीं हुआ? रविवार को ही द्वारका इलाके में सरेआम दो आपराधिक गिरोहों के बीच खूनी टकराव हुआ। वहां संयोग से पुलिस पहुंच गई और एक कांस्टेबल की तत्परता की वजह से एक अपराधी मारा गया। वरना ज्यादातर ऐसी वारदात के वक्त पुलिस अनुपस्थित होती या फिर देर से पहुंचती है।

सच यह है कि दिल्ली में अपराध पर काबू पाने के चाहे जितने दावे किए जाएं, लेकिन आए दिन अपराध की बड़ी घटनाएं यह बताने के लिए काफी हैं कि कानून-व्यवस्था के मोर्चे पर पुलिस की कार्रवाई में अपेक्षित चौकसी नहीं है। यही वजह है कि आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों में कोई खौफ नहीं दिखता। आमतौर पर अपराध के शिकार साधारण लोग होते हैं और उसमें पुलिस की कोताही पर सवाल उठते हैं। मगर जब खुद पुलिस पर हमला करने में अपराधियों को हिचक नहीं हो रही है, तो आम नागरिक कैसे अपने आप को सुरक्षित महसूस करें! यह अकारण नहीं है कि दिल्ली को एक ऐसे शहर के रूप में देखा जाता है, जहां अपराधों का ग्राफ काफी चिंताजनक है। विडंबना यह है कि एक राज्य के रूप में दिल्ली का जो स्वरूप है, उसमें लोगों के सामने कानून-व्यवस्था के मसले पर जिम्मेदारी का सवाल स्पष्ट नहीं हो पाता है। लेकिन यहां कानून और सुरक्षा व्यवस्था के मोर्चे को दुरुस्त करने सहित अपराधों पर लगाम लगाना अगर पुलिस के कार्य और अधिकार-क्षेत्र में है, तो उससे उम्मीद की जाएगी कि देश की राजधानी होने के नाते राज्य के माहौल को अपराध-मुक्त बनाने की कोशिश करे।

कल्पमेधा

देश को ऐसे दृढ़ युवाओं की जरूरत है जो सपने देख सकें और सपनों को पहले विचारों में, फिर कार्य में बदल सकें।
-एपीजे अब्दुल कलाम

आदिवासियों के अधिकारों की राह

अमरेंद्र किशोर

आजादी की लड़ाई में गांधी के सत्याग्रह से लेकर सविनय अवज्ञा जैसे प्रभावशाली आंदोलनों को देश के विभिन्न इलाकों के आदिवासियों ने भरपूर समर्थन दिया। लेकिन आजादी हासिल होने के ठीक पहले जब व्यवस्था की बुनियाद रखने का काम हो रहा था तब दुर्भाग्यवश आदिवासियों की तरफदारी करने वाले कोई ज्यादा लोग नहीं थे।

एक लंबी लड़ाई के बाद आदिवासियों के हकों के सवाल पर 2005 में जब सरकार सहमत हुई तो वन अधिकार कानून अस्तित्व में आया। लेकिन इसमें भी कई अड़चनें और पेचीदगियां थीं। इसलिए इस कानून को संशोधन के बाद 2009 में पारित किया गया। कहा गया कि इससे आदिवासियों को जंगलों में जाने और वनोपज जुटाने का अधिकार मिल गया है। मगर इसमें आदिवासी समुदाय के साथ एक बड़ा अन्याय यह हुआ कि उसे पर्याप्त जमीन नहीं दी गई और आदिवासियों को कई तरह के फर्जी मुकदमों में फंसाया गया। ऐसे में सवाल उठना लाजिमी है कि जहां एक ओर देश में दलितों के हितों को लेकर बने कानून को सख्ती से लागू करने की होड़ मच जाती है वहीं तमाम प्रावधानों के बावजूद आदिवासी हक और हकूक के सवाल पर वंचित क्यों रह जाते हैं?

इस संबंध में देश के राजनीतिक गलियारों में झांक कर एक दबे-कुचले सच का मुआयना किया जाना चाहिए। 1952 के प्रथम आम चुनाव के वक्त से ट्राइबल रिजर्व सीट या आदिवासी मतदाताओं के निर्णय की परवाह अमूमन किसी भी राजनीतिक दल ने नहीं की थी। आज भी इस सहज उपेक्षा का राष्ट्रीय भाव उस देसी राजनीति को दूर धकेल देता है। इसी माहौल में संसदीय बहस में आदिवासी सांसदों की लगातार चुप्पी राजनीति में पसरे एक युगीन कड़वे सच की ओर इशारा करती है। इस सबके बावजूद यह भी सच है कि पहाड़ों का लोकमानस अपने मन-मिजाज के साथ जीने वाले समाज का प्रतिनिधित्व करता है इसलिए उसे राजसत्ता के प्रसंग में किसी भी सूरत में कमतर आंक कर आदिवासी हितों के सवाल पर चुप्पी साध ली जाती है। खास तौर से मध्यप्रदेश, उत्तर-पूर्व राज्यों के साथ झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडीशा और गुजरात के अलावा महाराष्ट्र का आदिवासी जनादेश केंद्र में सरकार बनाने में सक्षम होने के बावजूद भारतीय राजनीति में अपेक्षित तरजीह नहीं पा सका है।

एक बात और महत्त्वपूर्ण है कि गुजरे दो दशकों में पहाड़ों और जंगलों के रहवासी समाज के हालात बदलने के चलते परंपरागत प्रवृत्ति में खासा बदलाव आया है। नए राज्यों के निर्माण से देश के तीन राज्यों झारखंड-छत्तीसगढ़ और तेलंगाना में राजनीति का नवयुग आया है। इन राज्यों के आदिवासी बहुल इलाकों में जनादेश या तो भावातिरेक से भरा होता है या स्थानीय स्तर का राजनीतिक संकट राष्ट्रीय राजनीति को दरकिनार करने से बाज नहीं आता। ध्यान देने की बात यह भी है कि इन इलाकों के मुद्दे देखते ही देखते कई बार राष्ट्रीय प्रसंग में तब्दील हो जाते हैं। इन तमाम महत्ताओं के बावजूद आदिवासियों के मताधिकार और उसके प्रयोग की प्रासंगिकता को लेकर तरह-तरह के सवाल पैदा होते रहे हैं जिनकी अपनी रोचकता भी है और इससे जुड़े कुछ सवाल भी हैं। कैसी विडंबना है कि जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रावधानों की हम दुहाइयां देते हैं उस व्यवस्था के नीति-नियमन के निर्माण के दौर में आदिवासियों की कथित असभ्यता, क्रूरता और जाहिलता का बहाना बना कर उन्हें जनादेश के जश्न से दूर रखने की सिफारिश कानून निर्माताओं ने की थी।

आजादी के शुरुआती सालों में पंडित नेहरू विकास का फेबियनवादी मॉडल लेकर गांवों में गए तो आदिवासियों ने सरकार को करीब से देखा। इससे पहले वे गोरों के दमन-दबाव और दोहन से भरे क्रूर चेहरों से परिचित थे। नेहरू सोनभद्र के एक बीजपुर गांव ही नहीं बल्कि उसके जैसे कई गांवों में पहाड़ों और जंगलों के लोगों को राष्ट्र के विकास के लिए जल-जंगल-जमीन देने की गुजारिश करते दिखे। नेहरू को उन तमाम आदिवासी सांसदों पर भरोसा था जो देश के मूल वाशिंदों के प्रतिनिधि थे। कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर आश्रित भारत को ग्रामीण स्वराज में बदलने की तत्परता सरकार का एक व्यावहारिक फैसला था, जिसके सूत्रधार वन्य इलाकों से जीत कर आए वे सांसद थे, जो आदिवासियों के अंतर्मन में सरकार की मंशाओं और सदिच्छाओं की सही और सकारात्मक तस्वीर पेश कर रहे थे। इसी क्रम में गुमनामी की जिंदगी जीते आदिवासी राष्ट्रीय बहस-मुबाहिसों के साझीदार भी बने। नेहरू किसी भी सूरत में वन्य समाज को नाराज नहीं होने देना चाहते थे। उन्हें पता था कि आदिवासियों की भलमनसाहत और रजामंदी से ही बांधों और चिमनियों का संजाल देश में बिछाया जा सकता है।

आजादी की लड़ाई में गांधी के सत्याग्रह से लेकर सविनय अवज्ञा जैसे प्रभावशाली आंदोलनों को देश के विभिन्न इलाकों के आदिवासियों ने भरपूर समर्थन दिया। लेकिन आजादी हासिल होने के ठीक पहले जब व्यवस्था की बुनियाद रखने का काम हो रहा था तब दुर्भाग्यवश आदिवासियों की तरफदारी करने वाले कोई ज्यादा लोग नहीं थे। जवाहरलाल नेहरू, हरेंद्र कुमार मुखजी और गोपीनाथ बरदिलोई संसद में आदिवासियों के प्रतिनिधित्व के हिमायती थे जबकि आज की अनुसूचित जातियों को राष्ट्र की मुख्यधारा में लाने के तमाम प्रयासों और मुहिम में आदिवासियों को शामिल करने को लेकर व्यापक वाद-प्रतिवाद चल रहा था। इसी जटिलता की वेला में जाति को जनजाति से अलग कर देखने की वजह से अनेक पूर्ववर्तियों की तर्ज पर तत्कालीन दलित नेता कथित 'सभ्यों' और 'असभ्यों' के बीच दीवार खड़ी करने से बाज नहीं आये। जनगणना रिपोर्ट से जानकारी मिलती है कि अनुसूचित जातियों में शिक्षा को लेकर हालात अपेक्षया बदतर थे और युगीन अस्पृश्यता के चलते वे लोकतांत्रिक तो क्या मानवाधिकार तक के लिए तरस रहे थे। इसी कारण साइमन कमीशन से दलितों को मताधिकार देने की वकालत की गई थी लेकिन देश के पर्वतों और जंगलों के रहवासी आदिवासियों को मताधिकार से वंचित रखे जाने की बात कहने से भारी बखेड़ा पैदा हो गया। संविधान निर्माताओं के एक वर्ग का मानना था कि 'आदिवासी, मताधिकार पाने के योग्य नहीं हैं।' इसलिए जहां स्टूच्येटरी कमीशन के लिए संपत्ति पर मालिकाना हक, मताधिकार के लिए आवश्यक था वहीं उस वर्ग विशेष की दृष्टि में, चूंकि आदिवासी जंगली और असभ्य थे, इसलिए वे मताधिकार पाने के योग्य नहीं थे।

जानकारों का मानना है कि आंबेडकर आदिवासियों के सामाजिक और राजनीतिक हालात से परिचित थे। उनके निशाने पर वे तमाम राजा-रजवाड़े थे जिनके रैयत बन कर स्थानीय आदिवासी जैसे-तैसे जी रहे थे। यहां तक कि मध्य प्रांत के राजाओं ने स्थानीय आदिवासी समाजों के अपराधीकरण में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। आंबेडकर को शक था कि राजाओं की गुलामी ओढ़े आदिवासी अपने विवेक का इस्तेमाल किए बिना जब मताधिकार का प्रयोग करेंगे तो जीत सामंती ताकतों की होगी। वे सत्ता के शीर्ष को राजशाही से मुक्त रखने के पक्षधर थे। इसी वजह से सन 1929 में साइमन आयोग के समक्ष यह पक्ष रखा गया कि 'आदिम जनजातियों में अब तक इतनी राजनीतिक समझ विकसित नहीं हो सकी है कि वे उन्हें उपलब्ध राजनीतिक अवसरों का उचित इस्तेमाल कर सकें और वे किसी भी बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक समुदाय के हाथों का खिलौना बनकर, खुद का कुछ भी भला किए बगैर, संतुलन को बिगाड़ सकती हैं।'

आंबेडकर के इस नजरिये को लेकर जम कर हंगामा हुआ। संविधान सभा में आदिवासी प्रतिनिधि जयपालसिंह मुंडा ने आक्रोश के साथ कहा था कि 'मेरे आदिवासी लोग पिछले 6,000 वर्ष से उपेक्षित और कुचले गए हैं। उन्हें अपमान भरा जिल्लत का जीवन जीने के लिए विवश किया गया है। गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों को प्राचीन काल से निर्वासित जीवन जीने के लिए विवश किया गया है।' प्रो एमएल गरासिया ने भी जयपाल सिंह की बात का समर्थन किया था लेकिन इन मांगों और आरोपों को विभिन्न दलीलों के जरिए ठुकरा दिया गया।

हालांकि यह आज तक जिज्ञासा का विषय है कि जब जयपालसिंह मुंडा ने संविधान में आंबेडकर के समक्ष आदिवासियों के लिए 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किए जाने की मांग की थी तो इस मांग को नहीं मानने के पीछे आखिरकार कैसी लाचारी थी? क्या वर्ग विशेष को महारों और दलितों का महत्त्व जागरूक और शिक्षित हो रहे आदिवासियों के मुकाबले कम हो जाने का भय था? क्या इसी कारण संविधान में 'आदिवासी' शब्द की मांग को ठुकरा दिया गया। देश भर के आदिवासियों को मताधिकार नहीं देने के पीछे जो दलीलें परोसी गईं, क्या शिक्षा पर अपनी पकड़ जमाते आदिवासियों के लिए यह न्यायसंगत होता? संविधान में अपनी मूल पहचान से वंचित होते आदिवासियों का सवाल है कि 'आज अगर हम भारतवर्ष के 'आदिवासी' होने की गरिमा से संविधान में वंचित हैं तो उसके जिम्मेदार कौन हैं?'

सफर में देश

शोभना विज

अपनी उम्र के हिसाब से मेरा आकलन है कि लोकसभा के लगभग चौदह चुनाव आकर गुजर गए होंगे इस बीच। इनमें कुछ, मसलन आठ-नौ चुनाव ऐसे रहे जिन्हें मैंने होश संभालने और चीजों को ठीक से समझ पाने की क्षमता अर्जित करने के बाद देखा और जाना। यों मतदाता होने की दहलीज तक पहुंचने से पहले भी बहुत कुछ समझ में आ गया था कि नेता लोग प्रचार कैसे करते हैं। खुली गाड़ी में सवार, गले में फूलों के हार, चेहरे पर मीठी मुस्कान, साथ में बहुत सारे समर्थक, कुछ सुरक्षाकर्मी, लोगों की अच्छी-खासी भीड़, जिंदाबाद के नारे, भाषण... और फिर झांकी के आगे निकलने पर हल्की-फुल्की चर्चा करते हुए तितर-बितर होते लोग।

लेकिन 1957 में शिमला की उस वृक्षों से आच्छादित मुख्य सड़क वाला एक दृश्य भुलाए नहीं भूलता जब मुझे देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को देखने का मौका मिल सका था। यों बहुत बाद में कहीं यह भी पढ़ने को मिला था कि नेहरू रैलियों में जाने से काफी कतराते थे। यह बात सच रही होगी, क्योंकि हमने भी बरसों में एक ही बार वहां उनके आगमन का नजारा देखा था। सड़क के दोनों किनारों पर लंबी कतारों में स्कूलों के विद्यार्थी खड़े थे। छात्र-छात्राओं के हाथों में फूलों के छोटे-छोटे गुलदस्ते थे और वे आंखों में चाचा नेहरू को देखने का सपना लिए हुए थे। धीमी गति से चल रही खुली गाड़ी में खड़े नेहरू चेहरे पर मंद मुस्कान लिए बच्चों द्वारा अपनी ओर उछाले जा रहे फूलों को उधर से बच्चों की तरफ ही उछाल रहे थे।

दुनिया मेरे आगे

यहां इससे जुड़ी एक और बात याद आ गई। हुआ यह कि उस दौरान नेहरू के हाथों से उछल कर एक गुलदस्ता सातवीं जमात में पढ़ रही मेरी छोटी बहन के फैले हुए हाथों की गिरफ्त में आ गया। दूर से मैडम ने यह देखा तो दौड़ी आईं और लपक कर मेरी बहन के हाथों से गुलदस्ता छीन कर ले गईं। यह कहा कि इसे प्रिंसिपल के दफ्तर में ले जाना है। मेरी बहन घर पहुंच कर रोने लगी जैसे किसी बड़ी परीक्षा में फेल हो गई हो। मां इसलिए भी मायूस हुईं कि स्वाधीनता-आंदोलन के कुछ वर्ष उनकी पीढ़ी के लोगों के होशहवास में गुजरे थे।

यह बात याद करते हुए मुझे आज भी खुशी होती है कि हमारी मां और बाबूजी को देश की आजादी के इतिहास की बहुत अच्छी जानकारी थी। दोनों को अखबार पढ़ने का जुनून था और वे उर्दू अखबार पढ़ते थे। स्वतंत्रता आंदोलन के महानायक रहे लोगों के बारे में अक्सर चर्चा भी करते। बिटिया के हाथों से नेहरू जी के हाथों वाला गुलदस्ता छिन जाने का उन्हें भी दुख हुआ।

दरअसल, यह उस दौर का भावुकता से लबरेज एक मजबूत रिश्ता था जो जनता और नेता के बीच एक ठोस बुनियाद पर कायम था। इसका एक स्वाभाविक कारण यह भी था कि स्वाधीनता-आंदोलन के किस्से-कहानियां अभी लोगों के जेहन में ताजा थे। अपनी जिंदगी का एक बेहतरीन हिस्सा यानी उम्र के शुरुआती तीन-चार दशक जिन लोगों ने गुलामी में बिताए हों, वही लोग इस बात को शिद्दत से महसूस कर सकते थे कि आजाद फिजां में सांस लेना कैसा होता है।

शायद यही वजह थी कि देश की आजादी के लिए संघर्ष करने वाले लोगों के नाम उस पीढ़ी के लिए प्रातःस्मरणीय थे। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना आजाद, सुभाषचंद्र बोस, सरोजनी नायडू और दूसरी ओर इंकलाबी विचारधारा रखने वाले शहीद भगत सिंह के अलावा और भी न जाने ऐसे कितने ही देशभक्तों की छवियां थीं जो आजादी के दीर्घकालिक संघर्ष की प्रतीक होकर उनकी आंखों में बसी हुई थीं। आस्थाओं का यह ज्वार आने वाली पीढ़ियों तक बरकरार रहा और आज भी है। जनता और नेता के बीच रिश्ते की डोर उस दौर के जितनी पवित्र और महीन न सही, लेकिन अपनी सामयिक बुनावट के साथ हमेशा मौजूद रही है।

अब स्थितियां वैसी नहीं रहीं। बहुत बदल चुकी हैं। ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप और लू के थपेड़ों के बावजूद चुनावों का मौसम सुहाना और रंगीन बना रहता है। प्यास से व्याकुल इंसान को दो घूंट पानी मिले न मिले, लेकिन नेता जी के रोड-शो की सड़क को धोने के लिए जब पानी के टैंकर बहा दिए जाते हैं तो गांधी बहुत याद आते हैं। अब बच्चों के हाथों में फूलों के छोटे-छोटे गुलदस्ते थमाने का चलन नहीं रहा। आज नेताजी पर बरसाने के लिए क्विंटलों की तौल से गुलाब जमा करने के लिए जब बागों के बाग उजाड़ दिए जाते हैं तो नेहरू के सीने पर लगा गुलाब याद आता है। चुनावों के दौरान आसमान में उड़ते हेलिकॉप्टरों के झुंड, एक दिन में एक नेता देश के कई हिस्सों में भाषण, चुनाव अभियानों में बेमानी मुद्दे, हजारों करोड़ रुपए खर्च के बरक्स पुराने दौर की चुनावी यात्राएं, जिसमें किसी जीप पर सवार नेता लोगों से मुद्दों के आधार पर वोट मांगते थे। हम देख सकते हैं... कि कहां आ गए हम!

सिर पर मैला

यह शर्मिंदगी की बात है कि देश में आज भी मैला ढोने की प्रथा जारी है। उत्तर प्रदेश, बिहार और झारखंड के अलावा अन्य कई राज्यों में अब भी शुष्क शौचालयों का उपयोग होता है और इनमें मानव अपशिष्ट उठाने का काम मानव ही करते हैं, वह भी हाथों और झाड़ू के जरिए। इनके पास कोई खास उपकरण भी नहीं होता है। सीवर सफाई के दौरान हुई मौतों की खबरें आए दिन अखबारों की सुर्खियों में रहती हैं।

जहां एक ओर सभी राजनीतिक दल दलितों की राजनीति कर अपना वोटबैंक साधने में लगे हैं वहीं दूसरी ओर यही नेता इस बात को नजरअंदाज करते आए हैं कि मैला ढोने के अमानवीय पेशे में अधिकतर लोग इसी समाज से हैं। उनमें से लगभग अस्सी प्रतिशत दलित महिलाएं हैं। सरकार आंखें मूंदे स्वच्छ भारत अभियान पर अपना ध्यान केंद्रित किए हुए है। लेकिन ईमानदार कोशिश के अभाव में यह अच्छा अभियान भी महज टीवी, विज्ञापनों और पोस्टरों तक सिमट कर रह गया है।

योजना आयोग द्वारा 1989 में स्थापित टास्क फोर्स की उप-समिति के अनुसार देश में लगभग बहत्तर लाख सूखे शौचालय थे। देश में लगभग दस लाख ऐसे लोग हैं जो अपने हाथों से मैला ढो रहे हैं। सीवर श्रमिकों की सुरक्षा स्थितियों में सुधार को लेकर कई अदालती निर्देशों के बावजूद खतरनाक कामकाजी परिस्थितियों के कारण सीवर श्रमिकों की मृत्यु की खबरें नियमित रूप से आती रहती हैं। सफाई कर्मचारी आंदोलन के अनुसार 1993 से अब तक उसके पास ऐसे तेरह सौ सत्तर सीवर श्रमिकों के नाम हैं जिनकी मृत्यु काम करने की खतरनाक परिस्थितियों में हुई।

बाकी राज्यों को भी दिल्ली सरकार से सीख लेकर इस प्रथा को समाप्त करने के उपाय करने चाहिए जिससे मानवता को शर्मसार करने वाली इन परंपराओं से समाज को मुक्ति मिल सके। सभी नागरिकों को सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार है। सिर्फ परिवार पालने के लिए किसी व्यक्ति को मैला ढोना पड़े तो यह सारी व्यवस्था के लिए कलंक की बात है।

● *अश्वनी राघव 'रामेंदु', नई दिल्ली*

ईवीएम के बहाने

आज तमाम विपक्षी दलों के नेता एग्जिट पोल के अनुमानों को गलत बता रहे हैं और साथ में कह रहे हैं कि तेईस मई को दूध का दूध और पानी का पानी हो जाएगा। वे यह अच्छी बात कह रहे हैं, लेकिन अगर परिणाम इनके खिलाफ आएंगे तो ईवीएम को कोसने लगेंगे; सरकार और निर्वाचन आयोग में सांठगांठ का आरोप लगाएंगे, दिल्ली में धरना देंगे आदि-आदि। यानी चित भी इनकी पट भी इनकी। कहीं तो ठहरिए, चुनाव परिणाम को स्वीकार करना सीखिए; लोकतंत्र का उपहास मत उड़ाइए।

ईवीएम से नतीजे पक्ष में आए तो ईवीएम सही और यदि इसके उलट आए तो ईवीएम को केंद्र सरकार ने हैक करा रखा था! अपनी हार का ठीकरा ईवीएम और निर्वाचन आयोग पर फोड़ना इनकी अयोग्यता ही दर्शाता है कि प्रतिनिधित्व करने के लिए जनता ने इन्हें नकार दिया है। किसी चुनी हुई सरकार को न मानना जनता के मत की अवहेलना है और अलोकतांत्रिक व असंवैधानिक भी है। हो-हल्ला मचाने से नतीजे नहीं बदलने वाले। बेहतर रहेगा, जनादेश का सम्मान किया जाए।

● *सतप्रकाश सनोठिया, रोहिणी, दिल्ली*

बदहाल विद्यालय

सरकारी विद्यालयों में औचक निरीक्षण के नाम पर सिर्फ शिक्षकों और विद्यार्थियों की उपस्थिति के अलावा मध्याह्न भोजन योजना पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। अन्य योजनाओं सहित विकास के नाम पर जो राशि दी जाती है, उसका कितना सदुपयोग हो रहा है, इसका निरीक्षण शायद ही कभी होता हो!

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

नतीजतन, अधिकांश विद्यालय आज भी बुनियादी सुविधाओं से वंचित है। सौंदर्यीकरण के नाम पर बाहरी दीवारों को चमका देना काफी समझा जाता है। शायद ही कोई विद्यालय हो जहां पुस्तकालय और खेल सामग्री पाई जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में विभागीय अधिकारियों की लापरवाही का परिणाम है कि सरकारी योजनाएं जमीन पर दिखाई नहीं देतीं। आखिर विभागीय अधिकारी इन योजनाओं के प्रति गंभीरता क्यों नहीं दिखाते? अगर शिक्षा विभाग के अधिकारियों सहित विद्यालयों की शिक्षा समितियां अपने दायित्वों का निर्वहन निष्ठापूर्वक करें तो सरकारी स्कूलों की स्थिति भी पब्लिक स्कूलों जैसी होगी।

● *मंजर आलम, रामपुर डेहरु, मधेपुरा, बिहार*

परीक्षा का दिन

अगले हफ्ते 25 से 28 मई तक देश भर के अलग-अलग केंद्रों पर चलने वाली जेएनयू प्रवेश परीक्षा को इस बार नेशनल टेस्टिंग एजेंसी यानी एनटीए आयोजित कर रहा है। इस परीक्षा में शामिल होने वाले अधिकांश प्रत्याशियों ने एक से अधिक विषयों और कोर्स में आवेदन किया है। इसका प्रवेश पत्र जारी होने के बाद भावी प्रत्याशियों के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई है और वह यह कि एजेंसी द्वारा दो अलग-अलग विषयों और कोर्सेज के लिए परीक्षा के दो केंद्र आवंटित कर दिए हैं। इसके बाद उन प्रत्याशियों के लिए भारी दिक्कत पैदा हो गई है जिनकी एक से अधिक परीक्षाएं एक ही दिन हैं। एक परीक्षा पहली पाली में और दूसरी परीक्षा दूसरी पाली में। दोनों पालियों के बीच महज एक-डेढ़ घंटे का अंतराल है। ऐसे में एक आम उम्मीदवार अपने दूसरे परीक्षा केंद्र तक कैसे पहुंच सकेगा?

सभी प्रत्याशियों के पास अपना वाहन नहीं होता जिससे तय समय में वे एक केंद्र से दूसरे केंद्र तक सुविधापूर्वक पहुंच जाएं। दिल्ली जैसे शहर के यातायात को देखते हुए यह असंभव लगता है। कुछ प्रत्याशियों के एक केंद्र से दूसरे केंद्र की दूरी पचास किलोमीटर से भी ज्यादा है। यह भी सुनने में आ रहा है कि दो केंद्र दो अलग-अलग राज्यों में दे दिए गए हैं। ऐसे में आम परीक्षार्थियों को भारी दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। यह संभव है कि बड़े पैमाने पर उनकी परीक्षाएं छूट जाएंगी। इसके मद्देनजर एक उम्मीदवार की सभी परीक्षाओं को एक ही परीक्षा केंद्र पर कराने की सुविधा प्रदान की जाए। समय कम है और भुक्तभोगी अधिक। जनहित के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर यथाशीघ्र ध्यान दिया जाए।

● *अंकित दूबे, जनेवि, नई दिल्ली*